अमूर्त आत्मा और निराकार चेतना सुख-दुःख का भागी क्यों होता है ? जन्म-पुनर्जन्म का कारण क्या है ? सृष्टिक्रम एक व्यवस्थित ढंग से क्यों गतिमान है—इन सब का समाधान—'कर्म-सिद्धान्त' में निहित है। कर्म-सिद्धान्त जैनदर्शन का मूलाधार तो है ही, किन्तु प्रत्येक भारतीय दर्शन ने उसे कहाँ, कैसे, किस रूप में स्वीकार किया है—इसका विश्लेषण प्रस्तुत प्रबंध में पढ़िए।

□ साध्वी संघमित्रा
[जैन श्वे० तेरापंथ संघ की प्रसिद्ध विदुषी श्रमणी]

कर्म-सिद्धान्त : मनन और मीमांसा

□

कर्म-सिद्धान्त भारत के उर्वर मस्तिष्क की उपज है। ऋषियों के दीर्घ तपोबल से प्राप्त नवनीत है। यथार्थ में आस्तिक दर्शनों का भव्य प्रासाद कर्म-सिद्धान्त पर ही टिका हुआ है। कर्म के स्वरूप-निर्णय में भले विचारैक्य न रहा हो, पर अध्यात्म-सिद्धि कर्म-विमुक्ति[1] के बिन्दु पर फलित होती है—इसमें कोई दो मत नहीं हैं। प्रत्येक दर्शन ने किसी न किसी रूप में 'कर्म' की मीमांसा की है। पर जैन दर्शन ने इसका चिन्तन विस्तार व सूक्ष्मता से प्रस्तुत किया है।

कर्म का शाब्दिक रूप

लौकिक भाषा में 'कर्म' कर्त्तव्य है। कारक की परिधि में[2] कर्ता का व्याप्य कर्म है। पौराणिकों ने व्रत-नियम को कर्म कहा। सांख्य दर्शन में पाँच[3] सांकेतिक क्रियाएँ 'कर्म' अभिधा से व्यवहृत हुई। जैन दृष्टि में कर्म वह तत्त्व है, जो आत्मा से विजातीय-पौद्गलिक होते हुए भी उससे संश्लिष्ट होते हैं और उसे प्रभावित करते हैं।

कर्मों की सृष्टि

सद्-असद् प्रवृत्ति से प्रकम्पित आत्म-प्रदेश पुद्गल-स्कंध को अपनी ओर आकर्षित करते हैं। आकृष्ट पुद्गल स्कन्धों में से कुछ आत्म-प्रदेशों पर चिपक जाते हैं शेष विसर्जित हो जाते हैं। चिपकने वाले पुद्गल स्कन्ध[4] 'कर्म' कहलाते हैं।

---

१. (क) उत्तराध्ययन ३२/२ "रागस्स दोसस्स य संखएणं—एगंत सोक्खं समुवेइ मोक्खं।'
(ख) हरिभद्रसूरि—षड्दर्शन, श्लोक ४३—प्रकृति वियोगो मोक्षः।
(ग) जयन्त न्याय-मंजरी—पृष्ठ ५०८—"तदुच्छेदे च तत्कार्यं शरीराद्यनुपप्लवात् नात्मनः सुख दुःखेस्तः—इत्यसौ मुक्त उच्यते।"
(घ) धर्मबिन्दु पृ० ७६—चित्तमेव ही संसारो—रागादिक्लेश वासितम्।
तदेव तै विनिर्मुक्तं—भवान्त इति कथ्यते।

२. कालु कौमुदी—कारक-सू-३ कर्तुर्व्याप्यं कर्म।

३. हरिभद्र सूरि—षड्दर्शन, श्लोक ६४।

४. आचार्य श्री तुलसी—जैन-सिद्धान्त दीपिका, प्रकाश ४/१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ये छओं[१] दिशाओं से गृहीत जीव प्रदेश के क्षेत्र में स्थित, अचल, सूक्ष्म, चतु:स्पर्शी कर्म प्रायोग्य अनन्तानन्त परमाणुओं से बने होते हैं। आत्मा सब प्रदेशों से कर्मों को आकृष्ट करती है। हर कर्म-स्कन्ध[२] का सभी आत्म-प्रदेशों पर बन्धन होता है और वे कर्मस्कन्ध ज्ञानावरणत्व आदि भिन्न-भिन्न प्रकृतियों में निर्मित होते हैं।

प्रत्येक आत्म-प्रदेश पर अनन्तानन्त कर्म पुद्गल स्कन्ध चिपके रहते हैं। कर्मों का वेदन काल उदयावस्था है। कर्मोदय दो प्रकार का है—१. प्रदेशोदय[3],२. विपाकोदय।

जिन कर्मों का भोग केवल प्रदेशों में ही होता है वह प्रदेशोदय है। जो कर्म शुभ-अशुभ फल देकर नष्ट होते हैं वह विपाकोदय है। कृषक अनेक बीजों को बोता है पर सभी बीज फलित नहीं होते। उनके फलित होने में भी अनुकूल सामग्री अपेक्षित रहती है।

कर्मों का विपाकोदय ही आत्मगुण को रोकता है और नवीन[४] कर्मों को बाँधता है। प्रदेशोदय में न नवीन कर्मों को सृजन करने की क्षमता है और न आत्मगुणों को रोकने की ही। आत्मगुण कर्मों की विपाक अवस्था से कुछ अंशों में सदा अनावृत्त रहता है। इसी अनावृत्ति से आत्मदीप की लौ सदा जलती रहती है। कर्मों के हजार-हजार आवरण होने पर भी किसी भी आवरण में ऐसी क्षमता नहीं है जो उसकी ज्योति को सर्वथा ढांक ले। इसी शक्ति के आधार पर आत्मा कभी अनात्मा नहीं बनता।

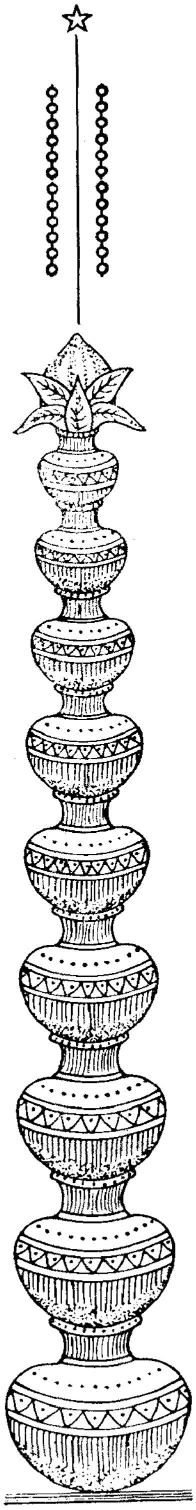

कर्म बन्धन की प्रक्रिया

बन्धन की प्रक्रिया चार प्रकार[५] की है।

१. प्रकृतिबन्ध, २. स्थितिबन्ध, ३. अनुभागबन्ध, ४. प्रदेशबन्ध।

१. ग्रहण के समय कर्म-पुद्गल एक रूप होते हैं पर बन्धकाल में उनमें आत्मा के ज्ञान, दर्शन आदि भिन्न-भिन्न गुणों को रोकने का भिन्न-भिन्न स्वभाव हो जाता है, यह प्रकृतिबन्ध[६] है।

२. उनमें काल का निर्णय स्थितिबन्ध[७] है।

३. आत्म परिणामों की तीव्रता और मन्दता के अनुरूप कर्म-बन्धन में तीव्र-रस और मन्द रस का होना अनुभागबन्ध[८] है।

४. कर्म-पुद्गलों की संख्या निर्णिति या आत्मा और कर्म का एकीभाव प्रदेशबन्ध[९] है।

कर्मग्रन्थ में बन्धन की यह प्रक्रिया मोदक के उदाहरण से समझाई गई है। मोदक पित्त नाशक है या कफ वर्धक, यह उसके स्वभाव पर निर्भर है।

वह कितने काल तक टिकेगा, यह उसकी स्थिति का परिणाम है। उसकी मधुरता का तारतम्य रस पर

---

१ तत्त्वार्थसूत्र ८/२५—नाम प्रत्ययाः सर्वतो योग विशेषात् सूक्ष्मैक क्षेत्रावगाढ़स्थिताः सर्वात्मप्रदेशेष्वनन्तानन्त-प्रदेशाः।

२ (क) आचार्य भिक्षु—नव सद्भाव निर्णय (ढाल ८।४) सघला प्रदेश आस्रव द्वार है सघला प्रदेश कर्म प्रवेश।
(ख) भगवती १।३।११३

३ स्थानाङ्ग स्था. २

४ मोह और नाम इन दो कर्मों के विपाक से ही कर्म बँधते हैं। अन्य कर्म बन्धन नहीं करते।

५ मूलाचार—१२२१ पयडि ठिदि अणुभागप्पदेशबंधो य चउविहो होइ।

६ (क) कर्म काण्ड, प्रकृति समुत्कीर्तनाधिकार—१-२
(ख) आचार्य श्री तुलसी—जैन सिद्धान्त दीपिका ४-७

७ आचार्य श्री तुलसी—जैन सिद्धान्त दीपिका ४-१०

८ वही ४-११

९ वही १२

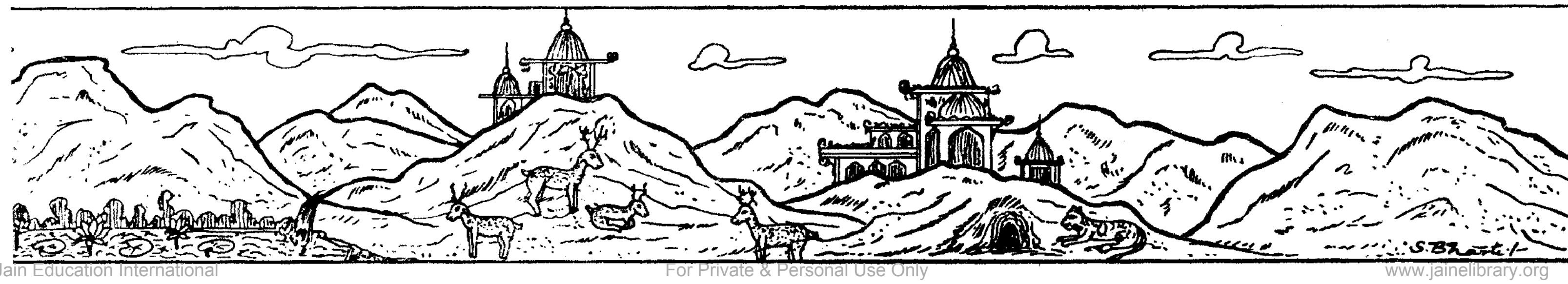

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अवलम्बित है। मोदक कितने दानों से बना है, यह संख्या पर स्थित है। मोदक की यह[1] प्रक्रिया ठीक कर्म-बन्धन की प्रक्रिया का सुन्दर निदर्शन है।

कर्म दो प्रकार के हैं—द्रव्य कर्म और भाव कर्म।

कर्म प्रायोग्य पुद्गल स्कन्ध द्रव्यकर्म है। उन द्रव्य कर्मों के तदनुरूप परिणत आत्म-परिणाम भाव कर्म है।

बन्धन के हेतु

बन्धन सहेतुक होता है निर्हेतुक नहीं। आत्मा और कर्म का सम्बन्ध भी निर्हेतुक नहीं है। पवित्र सिद्धात्माएँ कभी कर्म का बन्धन नहीं करतीं, क्योंकि वहाँ बन्धन के हेतु नहीं हैं। मलिन आत्मा ही कर्म का बन्धन करती है।

कर्म बन्धन के दो हेतु हैं—राग और द्वेष। इन दोनों का संसारी आत्मा पर एक ऐसा चेप है जिस पर कर्म-प्रायोग्य पुद्गल स्कन्ध पर चिपकते हैं। आगम की भाषा में रागद्वेष कर्म के[2] बीज हैं। सघन बन्धन सकषायी के होता है अकषायी के पुण्य बन्धन केवल दो स्थिति के होते हैं।

राग-द्वेष को कर्मों का बीज मानने में भारतीय इतर दर्शन भी साथ रहे हैं।

पातञ्जल योगदर्शन में—कर्माशय का मूल[3] क्लेश हैं। जब तक क्लेश[4] हैं तब तक जन्म, आयु, भोग होते हैं।

व्यास ने लिखा है :—क्लेशों[5] के होने पर ही कर्मों की शक्ति फल दे सकती है। क्लेश के उच्छेद होने पर यह नहीं होता। छिलके युक्त चावलों से अंकुर पैदा हो सकते हैं। छिलके उतार देने पर उनमें प्रजनन शक्ति नहीं रहती।

अक्षपाद कहते हैं—जिनके[6] क्लेश क्षय हो गये हैं उनकी प्रवृत्ति बन्धन का कारण नहीं बनती।

जैनदर्शन ने कहा—बीज के[7] दग्ध होने पर अंकुर पैदा नहीं होते। कर्म के बीज दग्ध होने पर भवांकुर पैदा नहीं होते।

बन्धन हेतुओं की व्याख्या में भिन्न-भिन्न संकेत मिलते हैं मूलाचार में चार हेतुओं[8] का उल्लेख है। तत्त्वार्थ सूत्र में पाँच[9] हेतु आये हैं। किसी ने कषाय और योग इन दो को ही माना। भगवती सूत्र में[10] में प्रमाद और योग का संकेत है। संख्या की दृष्टि से तात्त्विक मान्यता में प्राय: विरोध पैदा नहीं होता। व्यास में अनेक भेद किए जा सकते हैं, समास की भाषा में संक्षिप्त भी। किन्तु मीमांसनीय यह है कि-कषाय और योग इन दो हेतुओं से कर्म बन्धन की प्रक्रिया में दो विचारधारा हैं। एक परम्परा यह है कि—कषाय और योग इन दोनों के सम्मिश्रण से कर्म का बन्धन होता है। कषाय से स्थिति और अनुभाग का बन्धन होता है और योग से प्रकृति और प्रदेश का। दूसरी परम्परा में दोनों स्वतन्त्र भिन्न-भिन्न रूप से कर्म की सृष्टि करते हैं। पाप का बन्धन कषाय या अशुभ योग से होता है। पुण्य का बन्ध केवल शुभ योग से होता है। पहली परम्परा में मन्द कषाय से पुण्य का बंधन मानते हैं। दूसरी परम्परा में सकषायी के पुण्य का बन्धन हो सकता है पर कषाय से कभी पुण्य का बंधन नहीं होता। भले वह मन्द हो या तीव्र।

---

१ कर्मग्रन्थ २, पयइठिइरसपएसा तं चउहा मोयगस्स दिट्ठंता।
२ अ० ३२।७—रागो य दोसो विय कम्मबीयं।
३ यो० सू० २-१२ "क्लेशमूल: कर्माशयो दृष्टादृष्ट जन्म वेदनीय:"
४ यो० सू० २-१३ सतिमूले तद्विपाको जात्यायुभोगा:
५ व्यास भाष्य २-१३
६ गौतम सूत्र ४-१-६४ "न प्रवृत्ति प्रतिसन्धानाय हीनक्लेशस्य"
७ तत्त्वार्थाधिगम भाष्य—१०-७
८ मिच्छा दंसण अविरदि कषाय जोगा हवंति बंधस्स"—मूलाचार १२-१६
९ तत्त्वार्थसूत्र ८-१ मिथ्या दर्शनाविरति प्रमाद कषाय योगा बन्ध हेतव:।
१० भगवती १।३।१२७—पमाद पच्चया जोग निमित्तंच।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तत्त्वार्थ सूत्र में पहली परम्परा[1] मान्य रही है। तर्क की दृष्टि से दूसरी परम्परा अधिक उपयुक्त दिखाई देती है, और वह इस दृष्टि से कि प्रकृति, स्थिति, अनुभाग, प्रदेश तो एक ही बंधन की प्रक्रिया है। अतः पुण्य बन्धन के समय शुभ योग और कषाय इनकी एक साथ विसङ्गति दिखाई देती है। क्योंकि कषाय अधर्म है शुभ योग धर्म है। पूर्व और पश्चिम की तरह ये दोनों एक कार्य की सृष्टि में विरुद्ध हेतु जान पड़ते हैं, अतः इन दोनों से एक कार्य का जन्म मानने में विरोधाभास दोष आता है।

कर्म बंधन दो प्रकार का होता है—साम्परायिक[2] बन्ध, इर्यापथिक बन्ध। सकषायी का कर्म बंध साम्परायिक बंध है और अकषायी का कर्मबंध इर्यापथिक। इर्यापथिक[3] की स्थिति दो समय की है।

बंधन की चार और पाँच की परम्परा में पहला हेतु मिथ्यात्व है। मिथ्यात्व सम्यक्त्व का प्रतिपक्षी है। यह आत्मा की मूढ़ दशा है। दर्शनमोह का आवरण है। कर्म के बीज दो ही हैं—राग और द्वेष, ये चारित्रमोह के अंश हैं अतः चारित्रमोह ही बंधन करता है इस दृष्टि से मिथ्यात्व पाप का हेतु नहीं बनता। पर वह बंधन का हेतु इसलिए बन जाता है कि—चारित्रमोह के कुटुम्बी अनन्तानुबंधी कषाय चतुष्क हर क्षण मिथ्यात्व में साथ रहता है इनके साहचर्य से ही मिथ्यात्व बंध का हेतु न होते हुए भी सबसे पहला हेतु यह माना जाता है। इस हेतु से सबसे अधिक और सघन कर्म प्रकृतियों का बंधन होता है।

मिथ्यात्व को कर्म बंधन का हेतु मानने से अन्य दर्शनों के साथ भी बहुत सामञ्जस्य किया जा सकता है। जैसे—नैयायिक वैशेषिक मिथ्याज्ञान को, सांख्य दर्शन में प्रकृति पुरुष के अभेद ज्ञान को, वेदान्त अविद्या को, कर्म बंधन का कारण मानते हैं।

अविरति, प्रमाद और योग ये चारित्रमोह के ही अंश हैं। अतः बंध हेतु स्पष्ट ही है।

व्यवहार की दृष्टि से बंधन के दो हेतु हैं—राग और द्वेष। निश्चय दृष्टि से दो हेतु हैं—कषाय और योग। गुणस्थानों में कर्म बंधन की तरतमता के कारण या विस्तार की भाषा में बंधन के चार या पाँच हेतु हैं। जिस गुणस्थान में बन्धन के हेतु जितने अधिक होते हैं बंधन उतना ही अधिक स्थितिक और सघन होता है।

समग्र चिंतन का निचोड़ यह है कि—आस्रव बंध का हेतु है। संवर विघटन का हेतु है। यही जैन दृष्टि है और सब प्रतिपादन इसके विस्तार हैं।

कर्म की अवस्थाएँ

कर्म की प्रथम अवस्था बंध है, अन्तिम अवस्था वेदन है। इनके बीच में कर्म की विभिन्न अवस्थाएँ बनती हैं। उनमें प्रमुख रूप से दश अवस्थाएँ हैं बंध, उद्वर्तन, अपवर्तन, सत्ता, उदय, उदीरणा, संक्रमण, उपशम, निधत्त, निकाचना,।

१—बंध—कर्म और आत्मा के सम्बन्ध से एक नवीन अवस्था पैदा होती है यह बंध अवस्था है। आत्मा की बध्यमान स्थिति है। इसी अवस्था को अन्य दर्शनों ने क्रियमाण अवस्था कहा है। बंधकालीन अवस्था के पन्नवणा[4] सूत्र में तीन भेद हैं और कहीं अन्य ग्रन्थों में चार भेद भी किए गए हैं।

बद्ध, स्पृष्ट, बद्ध-स्पर्श-स्पृष्ट है और चार की संख्या में एक निधत्त और है।

१—कर्म प्रायोग्य पुद्गलों की कर्म रूप में परिणति बद्ध-अवस्था है।

२—आत्म प्रदेशों से कर्म पुद्गलों का संश्लेष होना 'स्पृष्ट' अवस्था है।

३—आत्मा और कर्म पुद्गल का दूध पानी की तरह सम्बन्ध जुड़ना बद्ध स्पर्श-स्पृष्ट अवस्था है।

४—दोनों में गहरा सम्बन्ध स्थापित होना 'निधत्त' है।

---

१ तत्त्वार्थसूत्र पृ० २८४

२ तत्त्वार्थ ६-५ सकषायाकषाययोः साम्परायिकेर्यापथयोः।

३ पन्नवणा पद २३-२

४ पन्नवणा पद २३-१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सुइयों को एकत्र करना, धागे से बाँधना, लोह के तार से बाँधना और कूट-पीटकर एक कर देना, अनुक्रम से बद्ध आदि अवस्थाओं का प्रतीक है।

२—**उद्वर्तन**—कर्मों की स्थिति और अनुभाग बंध में वृद्धि उद्वर्तन अवस्था है।

३—**अपवर्तन**—स्थिति और अनुभाग बंध में ह्रास होना अपवर्तन अवस्था है।

४—**सत्ता**—पुद्गल स्कंध कर्म रूप में परिणत होने के बाद जब तक आत्मा से दूर होकर कर्म-अकर्म नहीं बन जाते तब तक उनकी अवस्था सत्ता कहलाती है।

५—**उदय**—कर्मों का संवेदन काल उदयावस्था है।

६—**उदीरणा**—अनागत कर्मदलिकों का स्थितिघात कर उदय प्राप्त कर्मदलिकों के साथ भोगना उदीरणा है।

किसी के उभरते हुए क्रोध को व्यक्त करने के लिए भी शास्त्रों में उदीरणा शब्द का प्रयोग आया है। पर दोनों स्थान पर प्रयुक्त उदीरणा एक नहीं है। उक्त उदीरणा में निश्चित अपवर्तन होता है। अपवर्तन में स्थितिघात और रस घात होता है। स्थिति व रस का घात कभी शुभ योगों के बिना नहीं होता। कषाय की उदीरणा में क्रोध स्वयं अशुभ प्रवृत्ति है। अशुभ योगों से कर्मों की स्थिति अधिक बढ़ती है कम नहीं होती। यदि अशुभ योगों से स्थिति ह्रास होती तो अधर्म से निर्जरा धर्म भी होता पर ऐसा होता नहीं है। अतः कषाय की उदीरणा का तात्पर्य यह है कि—प्रदेशों में जो उदीयमान कषाय थी उसका बाह्य निमित्त मिलने पर विपाकीकरण होता है। उस विपाकीकरण को ही कषाय की उदीरणा कह दिया है।

आयुष्य कर्म की उदीरणा शुभ-अशुभ दोनों योगों से होती है। अनशन आदि के प्रसङ्गों पर शुभ योग से और अपघात आदि के अवसरों पर अशुभ योग से उदीरणा होती है, पर इससे उक्त प्रतिपादन में कोई बाधा नहीं है क्योंकि आयुष्य कर्म की प्रक्रिया में सात कर्मों से काफी भिन्नता है।

७—**संक्रमण**—प्रयत्न विशेष[1] से सजातीय प्रकृतियों में परस्पर परिवर्तित होना संक्रमण है।

८—**उपशम**—अन्तर्मुहूर्त तक मोहनीय कर्म की सर्वथा अनुदय अवस्था उपशम[2] है।

९—**निधत्त**—निधत्त अवस्था कर्मों की सघन अवस्था है। इस अवस्था में आत्मा और कर्म का ऐसा दृढ़ सम्बन्ध जुड़ता है जिसमें उद्वर्तन-अपवर्तन के सिवाय कोई परिवर्तन नहीं होता।

१०—**निकाचित**—निकाचित कर्मों का सम्बन्ध आत्मा के साथ बहुत ही गाढ है। इसमें भी किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता। सब करण अयोग्य ठहर जाते हैं।

निकाचित के लिए एक धारणा यह है कि—इसको विपाकोदय में भोगना ही पड़ता है। बिना विपाक में भोगे निकाचित से मुक्ति नहीं होती। किन्तु यह परिभाषा भी अब कुछ गम्भीर चिन्तन माँगती है क्योंकि निकाचित को भी बहुधा प्रदेशोदय से क्षीण करते हैं। यदि यह न माने तो सैद्धान्तिक प्रसङ्गों पर बहुधा बाधा उपस्थित होती है जैसे—नरक गति की स्थिति कम से कम १००० सागर के सातिय दो भाग अर्थात् २०५ सागर के करीब है और नरकायु की स्थिति उत्कृष्ट ३३ सागर की है। यदि नरक गति का निकाचित बंध है तो करीब २०५ सागर की स्थिति को विपाकोदय में कहाँ कैसे भोगेंगे जबकि नरकायु अधिक से अधिक ३३ सागर का ही है जहाँ विपाकोदय भोगा जा सकता है। इससे यह प्रमाणित होता है कि निकाचित से भी हम बिना विपाकोदय में भोगे मुक्ति पा सकते हैं। प्रदेशोदय के भोग से निर्जरण हो सकता है।

निकाचित और दलिक कर्मों में सबसे बड़ा अन्तर यह है कि दलिक में उद्वर्तन-अपवर्तन आदि अवस्थाएँ बन सकती हैं पर निकाचित में ऐसा कोई परिवर्तन नहीं होता।

आर्हत दर्शन दीपिका में निकाचित के परिवर्तन का भी संकेत मिलता है।

शुभ परिणामों की तीव्रता से दलिक कर्म प्रकृतियों का ह्रास होता है और तपोबल से निकाचित का भी।[3]

१ आचार्य श्री तुलसी : जैन सिद्धान्त दीपिका ४।४

२ वही ४।४

३ आर्हत दर्शन दीपिका, पृ० ८९

—सव्व पगई मेवं परिणाम वसादवक्कमो होज्जा पापमनिकाईयाणं तवसाओ निकाइयाणापि।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एक प्रश्न उठता है कि जब निकाचित में सब करण अयोग्य ठहर जाते हैं। दश अवस्थाओं में से कोई भी अवस्था इसे प्रभावित नहीं कर सकती। तब निकाचित के परिवर्तन का रहस्य क्या हो सकता है। विपाकोदय का अनाभोग तो तप विशेष से नहीं बनता, वह तो सहज परिस्थितियों के निमित्त मिलने पर निर्भर है। अतः यहाँ निकाचित के परिवर्तन का हार्द यह सम्भव हो सकता है कि—हर कर्म के साथ प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश का बंधन होता है। इन चार में जिसका निकाचित पड़ा है उसमें तो किसी प्रकार से परिवर्तन नहीं होता शेष में हो सकता। यदि स्थिति का निकाचित है तो प्रकृति बन्ध में परिवर्तन हो सकता है। और ऐसा मानने से अन्य प्रसङ्गों से कोई बाधा भी दिखाई नहीं देती। कर्म की ये दश अवस्थाएँ पुरुषार्थ की प्रतीक हैं, मानस की अकर्मण्य वृत्ति पर करारी चोट करती है।

कर्म की भौतिकता

कर्म[1] भौतिक है। जड़ है। क्योंकि वह एक प्रकार का बंधन है। जो बंधन होता है वह भौतिक होता है। बेड़ी मनुष्य को बाँधती है। तट नदी को घेरते हैं। बड़े-बड़े बाँध पानी को बाँध लेते हैं। महाद्वीप समुद्रों से आबद्ध रहते हैं। ये सब भौतिक हैं। इसीलिए बंधन हैं।

आत्मा की वैकारिक अवस्थाएँ अभौतिक होती हुई भी बंधन की तरह प्रतीत होती हैं, पर वास्तव में बंधन नहीं हैं, बंधजनित अवस्थाएँ हैं। पौष्टिक भोजन से शक्ति संचित होती है। पर दोनों एक नहीं हैं। शक्ति भोजनजनित अवस्था है। एक भौतिक है, इतर अभौतिक है।

धर्म, अधर्म, आकाश, काल, जीव ये पाँच द्रव्य अभौतिक हैं इसीलिए किसी के बंधन नहीं हैं।

भारतीय इतर दर्शनों में कर्म को अभौतिक माना है।

योग दर्शन में अदृष्ट आत्मा का विशेष गुण है। सांख्य दर्शन में कर्म प्रकृति का विकार है, बौद्ध दर्शन में वासना है और ब्रह्मवादियों में अविद्या रूप है।

कर्म को भौतिक मानना जैन दर्शन का अपना स्वतन्त्र और मौलिक चिन्तन है।

कर्म-सिद्धान्त यदि तात्त्विक है तो पाप करने वाले सुखी और पुण्य करने वाले दुःखी क्यों देखे जाते हैं यह प्रश्न भी कोई उलझन भरा नहीं है। क्योंकि बंधन और फल की प्रक्रिया भी कई प्रकार से होती है। जैन दर्शन में चार भंग आये हैं—

'पुण्यानुबंधी पाप' 'पापानुबंधी पुण्य' 'पुण्यानुबंधी पुण्य' 'पापानुबंधी पाप' भोगी मनुष्य पूर्वकृत पुण्य का उपभोग करते हुए पाप का सर्जन करते हैं। वेदनीय को समभाव से सहने वाले पाप का भोग करते हुए पुण्य का अर्जन करते हैं। सर्व सामग्री से सम्पन्न होते हुए भी धर्मरत प्राणी पुण्य का भोग करते हुए पुण्य का संचय करते हैं। हिंसक प्राणी पाप का भोग करते हुए पाप को जन्म देते हैं। इन भंगों से यह स्पष्ट है कि—जो कर्म मनुष्य आज करता है उसका फल तत्काल ही नहीं मिलता। बीज बोने वाला फल को लम्बे समय के बाद पाता है। इस प्रकार कृत कर्मों का कितने समय तक परिपाक होता है फिर फल की प्रक्रिया बनती है। पाप करने वाले दुःखी और पुण्य करने वाले सुखी इसीलिए हैं कि वे पूर्वकृत पाप-पुण्य का फल भोग रहे हैं।

अमूर्त पर मूर्त का प्रभाव

कर्म मूर्त है। आत्मा अमूर्त है। अमूर्त आत्मा पर मूर्त का उपघात और अनुग्रह कैसे हो सकता है जबकि अमूर्त आकाश पर चन्दन का लेप नहीं होता और न मुष्टिका प्रहार भी। यह तर्क ठीक है, पर एकान्त नहीं है। क्योंकि ब्राह्मी आदि पौष्टिक तत्त्वों के आसेवन से अमूर्त[2] ज्ञान शक्ति में स्फुरण देखते हैं। मदिरा आदि के सेवन से संमूर्छना भी।

यह मूर्त का अमूर्त पर स्पष्ट प्रभाव है। यथार्थ में संसारी आत्मा कथञ्चिद् मूर्त भी है। मल्लिषेणसूरि ने लिखा है :—

१ योगश० ५४ "कम्मं च चित्त पोग्गल रूवं जीवस्स अणाइ संबद्धं"
२ योगशतक ४६ मुत्तेण ममुत्तिओ उवघायाणुग्गहा विजुज्जंनि-जह विनाणस्स इहं मइरा पाणो सहाईहिं।

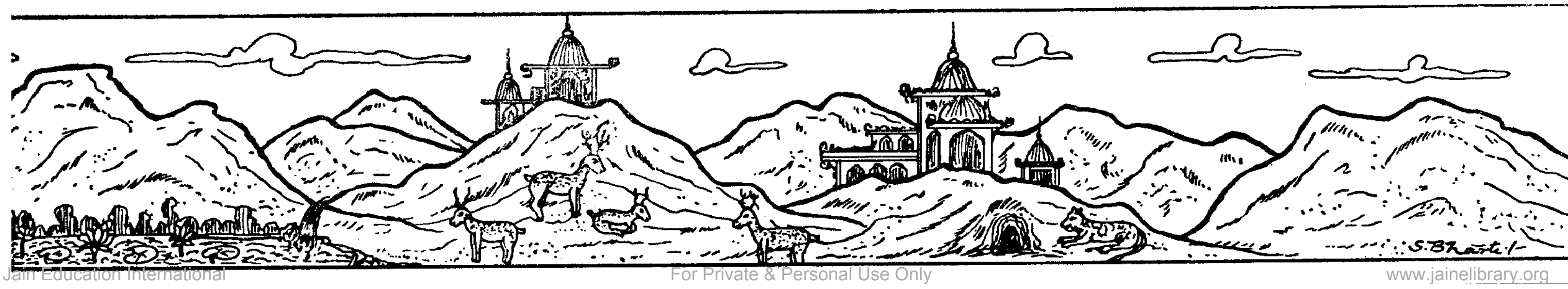

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संसारी आत्मा[१] के प्रत्येक प्रदेश पर अनन्तानन्त कर्म परमाणु चिपके हुए हैं। अग्नि के तपाने और घन से पीटने पर सुइयों का समूह एकीभूत हो जाता है। इसी एकार आत्मा और कर्म का सम्बन्ध संश्लिष्ट है। यह सम्बन्ध जड़ चेतन को एक करने वाला तादात्म्य सम्बन्ध नहीं किन्तु क्षीर-नीर का सम्बन्ध है। अतः आत्मा अमूर्त है यह एकाँत नहीं है। कर्मबंध की अपेक्षा से आत्मा कथञ्चिद् मूर्त भी है।

आत्मा के अनेक पर्यायवाची[२] नामों में से एक नाम पुद्गल भी है। यह पुद्गल अभिधा भी आत्मा का मूर्तत्व प्रमाणित करती है। अतः कर्म का आत्मा पर प्रभाव मूर्त पर मूर्त का प्रभाव है।

सम्बन्ध का अनादित्व

जैन दर्शन में आत्मा निर्मल तत्त्व है। वैदिक दर्शन में ब्रह्म तत्त्व विशुद्ध है। कर्म के साहचर्य से यह मलिन बनता है। पर इन दोनों का सम्बन्ध कब जुड़ा? इस प्रश्न का समाधान अनादित्व की भाषा में हुआ है। क्योंकि आदि मानने पर बहुत-सी विसङ्गतियाँ आती हैं। जैसे—सम्बन्ध यदि सादि है तो पहले आत्मा है या कर्म हैं या युगपद् दोनों का सम्बन्ध है। प्रथम प्रकार में पवित्र आत्मा कर्म करती नहीं। द्वितीय भंग में कर्म कर्ता के अभाव में बनते नहीं। तृतीय भंग में युगपद् जन्म लेने वाले कोई भी दो पदार्थ परस्पर कर्ता कर्म नहीं बन सकते। अतः कर्म और आत्मा का अनादि सम्बन्ध ही अकाट्य सिद्धान्त है।

हरिभद्रसूरि ने अनादित्व को समझाने के लिए बहुत ही सुन्दर उदाहरण देते हुए कहा—वर्तमान[3] समय का अनुभव करते हैं। फिर भी वर्तमान अनादि है क्योंकि अतीत अनन्त है और कोई भी अतीत वर्तमान के बिना नहीं बना फिर भी वर्तमान का प्रवाह कब से चला इस प्रश्न के उत्तर में अनादित्व ही अभिव्यक्त होता है। इसी प्रकार कर्म और आत्मा का सम्बन्ध वैयक्तिक दृष्टि से सादि होते हुए भी प्रवाह की दृष्टि से अनादि है। धर्मबिन्दु[४] में भी यही स्वर गूँज रहा है। आकाश और आत्मा का सम्बन्ध अनादि अनन्त है। पर कर्म और आत्मा का सम्बन्ध स्वर्ण मृत्तिका[५] की तरह अनादि सान्त है। अग्नि के ताप से मृत्तिका को गलाकर स्वर्ण को विशुद्ध किया जा सकता है। शुभ अनुष्ठानों से कर्म के अनादि सम्बन्ध को तोड़कर आत्मा को शुद्ध किया जा सकता है।

बाह्य वस्तुओं की प्राप्ति में कर्म का सम्बन्ध

कर्म दो प्रकार के हैं घाती कर्म, अघाती[६] कर्म। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय ये चार आत्मगुणों की घात करते हैं अतः इन्हें घाती कर्म कहते हैं। इनके दूर होने से आत्म-गुण प्रकट होते हैं। शेष चार अघाती कर्म हैं। क्योंकि ये मुख्यतः आत्म-गुणों की घात नहीं करते।

अघाती कर्म बाह्यर्थापेक्षी हैं। भौतिक तत्त्वों की प्राप्ति इनसे होती है। सामान्यतः एक प्रचलित विचारधारा है कि जब किसी बाह्य पदार्थ की उपलब्धि नहीं होती तब सोचते हैं यह कर्मों का परिणाम है। अन्तराम कर्म टूटा नहीं है। पर यथार्थ में यह तथ्य संगत नहीं है। अन्तराय कर्म का उदय तो इसमें मूल ही नहीं है क्योंकि यह घाती कर्म है। इससे आत्म-गुणों का घात होता है। इसके टूटने से आत्म-गुण ही विकसित होते हैं। अन्य कर्मजनित परिणाम भी नहीं है क्योंकि किसी कर्म का परिणाम बाह्य वस्तु का अभाव हो तो सिद्धावस्था में सभी सामग्री उपलब्ध होनी चाहिए क्योंकि उनके किसी कर्म का आवरण नहीं है और यदि किसी के उदय-जनित परिणाम पर ही बाह्य सामग्री निर्भर है

१ स्याद्वाद मञ्जरी, पृ० १७४
२ भग. श. २०।२
३ योग शतक श्लो० ५५
४ धर्मबिन्दु २–५२ पवाह तोऽनादिमानिति।
५ योगशतक श्लो० ५७
६ कर्मकाण्ड ११९ आवरण मोह विग्घंघादी-जीव गुण घादणात्तादो। आउणाम गोदं वेयणियं अघादित्ति।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तो भगवान महावीर का आज यश फैल रहा है वह नहीं होना चाहिए क्योंकि उनके किसी शुभ कर्म का उदय भी नहीं है अतः किसी पदार्थ की प्राप्ति कर्मजनित हो सकती है। अभाव कर्मजनित परिणाम नहीं है। पदार्थ की प्राप्ति के लिए भी प्राचीन साहित्य में दो मान्यताएँ उपलब्ध रही हैं। एक विचारधारा में समग्र बाह्य पदार्थ की प्राप्ति कर्मजनित ही है। दूसरी विचारधारा में बाह्य सामग्री केवल सुख-दुःखादि के संवेदन में निमित्त मात्र बनती है। तर्क की कसौटी पर दोनों का सामञ्जस्य ही उपयुक्त है।

आत्मा जिन देहादि पदार्थों का सृजन करती है वह कर्मजनित परिणाम हैं। शेष भौतिक उपलब्धि कर्म वेदन में निमित्त है। शेष को निमित्त न मानकर यदि कर्मजनित परिणाम ही माना जाये तो अनेक स्थलों पर बाधा उपस्थित होती है। क्योंकि जो निर्जीव पदार्थ हैं उनमें भी सुन्दर वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श देखे जाते हैं। ये अचेतन बादल कितने सुन्दर आकारों को धारण करते हैं किन्तु इनका यह सौन्दर्य किसी कर्म का परिणाम नहीं होता। अतः मानना पड़ता है कि बाह्य सामग्री कर्मजनित परिणाम भी है और निमित्त भी।

आत्मा का स्वातन्त्र्य और पारतन्त्र्य

साधारणतया कहा जाता है आत्मा कर्तृत्व काल में स्वतन्त्र है और भोक्तृत्व काल में परतन्त्र। उदाहरण की भाषा में विष को खा लेना हाथ की बात है। मृत्यु से बचना हाथ में नहीं है। यह स्थूल उदाहरण है क्योंकि विष को भी विष से निर्विष किया जाता है। मृत्यु से बचा जा सकता है। आत्मा का भी कर्म के कर्तृत्व और भोक्तृत्व दोनों अवसरों पर स्वातन्त्र्य और पारतन्त्र्य दोनों फलित होते हैं।

सहजतः आत्मा कर्म करने में स्वतन्त्र है। वह चाहे जैसे भाग्य का निर्माण कर सकती है। कर्मों पर विजय प्राप्त कर पूर्ण उज्ज्वल बन सकती है। पर कभी-कभी पूर्व जनित कर्म और बाह्य निमित्त को पाकर ऐसी परतन्त्र बन जाती है कि वह चाहे जैसा कभी भी नहीं कर सकती। जैसे कोई आत्मा सन्मार्ग पर बढ़ना चाहती है, पर चल नहीं सकती। पैर फिसल जाते हैं। यह है आत्मा का कर्तृत्व काल में स्वातन्त्र्य और पारतन्त्र्य।

कर्म करने के बाद आत्मा कर्माधीन ही बन जाती है ऐसा भी नहीं है। उसमें भी आत्मा का स्वातन्त्र्य सुरक्षित है। वह चाहे तो अशुभ को शुभ में परिवर्तित कर सकती है। स्थिति और रस का ह्रास कर सकती है। विपाक का अनुदय कर सकती है। यही तो कर्मों की 'उद्वर्तन' 'अपवर्तन' और 'संक्रमण अवस्थाएँ' हैं। इनमें आत्मा की स्वतन्त्रता बोल रही है। परतंत्र वह इस दृष्टि से है कि—जिन कर्मों का उसने सर्जन किया है उन्हें बिना भोगे मुक्ति नहीं होती। भले लम्बे काल तक भोगे जाने वाले कर्म थोड़े समय में भोग लिए जाएँ, विपाकोदय न हो, पर प्रदेशों[१] में तो सबको भोगना ही पड़ता है।

कर्म क्षय की प्रक्रिया

कर्म क्षय की प्रक्रिया जैन दर्शन में गहराई लिए हुए है। स्थिति का परिपाक होने पर कर्म उदय में आते हैं और झड़ जाते हैं यह कर्मों का सहज क्षय है। कर्मों को विशेष रूप से क्षय करने के लिए विशेष प्रयत्न करने पड़ते हैं। वह प्रयत्न स्वाध्याय, ध्यान, तप आदि मार्ग से होता है। इन मार्गों से सप्तम गुणस्थान तक कर्म क्षय विशेष रूप से होते हैं। अष्टम गुणस्थान से आगे कर्म क्षय की प्रक्रिया बदल जाती है। वह इस प्रकार है—१. अपूर्व स्थिति घात, २. अपूर्व रस घात, ३. गुणश्रेणी, ४. गुण-संक्रमण ५. अपूर्व स्थिति बंध।

कर्मग्रन्थ में इन पांचों का सामान्य विवेचन उपलब्ध है। इसके[२] अनुसार सर्वप्रथम आत्मा अपवर्तन करण के माध्यम से कर्मों को अन्तर्मुहूर्त में स्थापित कर गुण श्रेणी का निर्माण करती है। स्थापना का क्रम यह है—उदयकालीन समय को लेकर अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त एक उदयात्मक समय को छोड़कर शेष जितने समय हैं उनमें कर्म दलिकों को स्थापित किया जाता है। प्रथम समय में स्थापित कर्म दलिक सबसे कम होते हैं। दूसरे समय में स्थापित कर्म दलिक उससे

१. भग० १।४।१५५; उत्त० ४।३
२. कर्मग्रन्थ—द्वितीय भाग, पृ० १७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

असंख्यात गुण अधिक होते हैं। तृतीय समय के उससे भी असंख्यात गुण अधिक, यही क्रम अन्तर्मुहूर्त के चरम समय तक चलता रहता है। इस प्रकार हर समय पर असंख्यात गुण अधिक होने के कारण इसे गुणश्रेणी कहा जाता है।

गुण संक्रमण में अशुभ कर्मों की शुभ में परिणति होती जाती है। स्थापना का क्रम गुण श्रेणी की तरह ही है।

अष्टम गुणस्थान से लेकर चतुर्दश गुणस्थान तक ज्यों-ज्यों आत्मा आगे बढ़ती है त्यों-त्यों समय स्वल्प और कर्म दलिक अधिक मात्रा में क्षय होते जाते हैं। कर्म क्षय की प्रक्रिया यह कितनी सुन्दर है।

इस अवसर पर आत्मा अतीव स्वल्प स्थिति के कर्मों का बंधन करती है जैसा उसने पहले कभी नहीं किया है अतः इस अवस्था का बन्ध अपूर्व स्थिति बंध कहलाता है।

स्थिति घात और रस घात भी इस समय में अपूर्व ही होता है अतः यह अपूर्व शब्द सबके पीछे जुड़ जाता है।

इस उत्क्रान्ति की स्थिति में बढ़ती हुई आत्मा जब परमात्मा-शक्ति को जागृत करने के लिए अत्यन्त उग्र हो जाती है, आयु स्वल्प रहता है, कर्म अधिक रहते हैं तब आत्मा और कर्मों के बीच भयंकर युद्ध होता है। आत्म-प्रदेश कर्मों से लोहा लेने के लिए देह की सीमा को तोड़ रणभूमि में उतर आते हैं। आत्मा बड़ी ताकत के साथ लड़ती है। यह युद्ध कुछ माइल तक ही सीमित नहीं रहता। सारे लोक-क्षेत्र को घेर लेता है। इस महायुद्ध में कर्म बहु संख्या में शहीद हो जाते हैं। आत्मा की बहुत बड़ी विजय होती है। शेष रहने वाले कर्म बहुत थोड़े रहते हैं और वे भी इतने दुर्बल और शिथिल हो जाते हैं कि अधिक समय तक टिकने की इनमें शक्ति नहीं रहती। इनकी जड़ इस प्रकार से हिलने लगती है कि फिर उनको उखाड़ फैंकने के लिए छोटा-सा हवा का झोंका भी काफी है।

कर्म क्षय की यह प्रक्रिया जैन दर्शन में केवलि समुद्घात[1] की संज्ञा से अभिहित है।

इस केवलि समुद्घात की क्रिया से पातञ्जल योग दर्शन की बहुकाय निर्माण क्रिया बहुत कुछ साम्य रखती है। वहाँ बताया है—[2]"यद्यपि सामान्य नियम के अनुसार बिना भोगे हुए कर्म करोड़ों कल्पों में भी क्षय नहीं होते परन्तु जिस प्रकार गीले वस्त्र को फैलाकर सुखाने में वस्त्र बहुत जल्दी सूख जाता है अथवा अग्नि और अनुकूल हवा के सहयोग मिलने से बहुत जल्दी जलकर भस्म हो जाता है। इसी प्रकार योगी एक शरीर से कर्मों के फल को भोगने में असमर्थ होने के कारण संकल्प मात्र से बहुत से शरीरों का निर्माण कर ज्ञानाग्नि से कर्मों का नाश करता है। योग शास्त्र में इसी को बहुकाय निर्माण से सोपक्रम आयु का विपाक कहा है।"

वायुपुराण[3] में भी यही प्रतिध्वनि है—जैसे सूर्य अपनी किरणों को प्रत्यावृत्त कर लेता है इसी प्रकार योगी एक शरीर से बहुत शरीरों का निर्माण कर फिर उसी शरीर में उनको खींच लेता है।

सांख्य और प्रकृति

जैन दर्शन में जो स्थान आत्मा और कर्म का रहा, सांख्य दर्शन में वही स्थान प्रकृति और पुरुष का रहा है। पुरुष[4], अपूर्व, चेतन, भोगी, नित्य, सर्वगत, अक्रिय, अकर्ता, निर्गुण, सूक्ष्म स्वरूप हैं।

सत्त्व, रज और तम इन तीनों गुणों[5] की साम्यावस्था प्रकृति है। प्रकृति पुरुष का सम्बन्ध पंगु[6] और अंधे

---

१ पन्नवणा पद ३६।
२ स्याद्वाद मञ्जरी से उद्धृत पृ० ३६६।
३ वायुपुराण ६६–१५२।
४ स्याद्वाद मं० से उद्धृत पृ० १८६।
५ हरिभद्रसूरि कृत षड्दर्शन, श्लोक ३६।
६ वही पृ० ४२।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का सम्बन्ध है। प्रकृति जड़ है, पुरुष चेतन है। कर्मों की कर्ता प्रकृति है। पुरुष कर्म जनित फल का भोक्ता है। पुरुष के कर्म-फल-भोग की क्रिया बड़ी विचित्र है। "प्रकृति और पुरुष[१] के बीच में बुद्धि है। इन्द्रियों के द्वार से सुख-दुःख बुद्धि में प्रतिबिम्बित होते हैं। बुद्धि उभयमुख दर्पणाकार है इसलिए उसके दूसरे दर्पण की ओर चैतन्य का प्रतिबिम्ब पड़ता है। दोनों का प्रतिबिम्ब बुद्धि में पड़ने के कारण बुद्धि में प्रतिबिम्बित सुख-दुःख को आत्मा अपना सुख-दुःख समझती है। यही पुरुष का भोग है किन्तु बाह्य पदार्थों के प्रतिबिम्ब से उसमें विकार पैदा नहीं होता।"

व्यवहार की भाषा में प्रकृति पुरुष को बांधती है। पुरुष में भेद-ज्ञान हो जाने से वह प्रकृति से मुक्त हो जाता है। यथार्थ में नाना[२] पुरुषों का आश्रय लेने वाली प्रकृति ही बन्धन को प्राप्त होती है वही भ्रमण करती है। वही मुक्त होती है। पुरुष में केवल उपचार है।

जैसे नर्तकी[3] रंगमंच पर अपना नृत्य दिखाकर निवृत्त हो जाती है। इसी प्रकार पुरुष भेद-ज्ञान प्राप्त होने पर वह अपना स्वरूप दिखाकर निवृत्त हो जाता है।

बौद्ध दर्शन और वासना

बौद्ध दर्शन प्रत्येक पदार्थ को क्षणिक मानता है फिर भी उन्होंने कर्मवाद की व्यवस्था सुन्दर ढंग से दी है। बुद्ध ने कहा—

> आज से ९१ वें वर्ष[४] पहले मैंने एक पुरुष का वध किया था। उसी कर्म के फलस्वरूप मेरे पैर विंध गए हैं।
>
> मैं जो जैसा अच्छा[५] या बुरा कर्म करता हूँ उसी का भागी होता हूँ।
>
> समग्र प्राणी कर्म[६] के पीछे चलते हैं जैसे रथ पर चढ़े हुए रथ के पीछे चलते हैं।

बौद्ध दर्शन में कर्म को वासना रूप में माना है। आत्मा को क्षणिक मानने पर कर्म सिद्धान्त में, कृतप्रणाश, अकृतकर्मभोग[७], भव-प्रमोक्ष, स्मृतिभंग आदि दोष आते हैं। इन दोषों के निवारण के लिए इन्होंने सुन्दर युक्ति दी है। डा० नलिनाक्ष दत्त लिखते हैं—"प्रत्येक[८] पदार्थ में एक क्षण की स्थिति नष्ट होते ही दूसरे क्षण की स्थिति प्राप्त होती है। जैसे एक बीज नष्ट होने पर ही उससे वृक्ष या अंकुर की अवस्था बनती है। बीज से उत्पन्न अंकुर बीज नहीं है किन्तु वह सर्वथा उससे भिन्न भी नहीं है। क्योंकि बीज के गुण अंकुर में संक्रमित हो जाते हैं।"

ठीक यही उदाहरण बौद्धों का कर्म सिद्धान्त के विषय में है। उनके विचारों में बीज की तरह प्रत्येक क्षण के कृत कर्मों की वासना दूसरे क्षण में संक्रमित हो जाती है। इसीलिए कृत प्रणाशादि दोष उत्पन्न नहीं होते। बौद्ध दर्शन का यह प्रसिद्ध श्लोक है—

यस्मिन्नेव हि[९] सन्ताने आहिताकर्म वासना।
फलं तत्रैव संधत्ते कार्पासे रक्तता यथा॥

---

१ स्याद्वाद मं० से उद्धृत पृ० १८६
२ स्याद्वाद मञ्जरी से उद्धृत, पृ० १८७
३ वही, पृ० १९२
४ वही, पृ० २४७
५ कर्मग्रन्थ, प्रथम भाग, पृ० १३ में उद्धृत—"यं कम्मं करिस्सामि कल्याणं वा पापकं तस्स दायादं भविस्सामि।"
६ सुत्तनिपात वोसढ सुत्त ६१
७ अन्ययोग व्यवच्छेद द्वात्रिंशिका, श्लोक १८
८ "उत्तर प्रदेश में बौद्ध धर्म का विकास", पृ० १५२
९ स्याद्वाद मञ्जरी से उद्धृत, पृ० २४७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भारतीय अन्य दर्शनों में भी कर्म के स्थान पर अन्य विभिन्न अभिधाएँ अपनी-अपनी व्यवस्था लिए हुए हैं। कर्मग्रन्थ में इनका शब्दग्राही उल्लेख हुआ है—

"माया, अविद्या,[1] प्रकृति, वासना, आशय, धर्माधर्म, अदृष्ट, संस्कार, भाग्य, मलपाश, अपूर्व, शक्ति, लीला आदि आदि।

माया, अविद्या, प्रकृति ये तीन वेदान्त के शब्द हैं। अपूर्व शब्द मीमांसक दर्शन का है। वासना बौद्ध धर्म में प्रयुक्त है। आशय विशेषतः योग और सांख्य दर्शन में हैं। धर्माधर्म, अदृष्ट, संस्कार विशेषकर न्याय वैशेषिक दर्शन में व्यवहृत है। दैव, भाग्य, पुण्य, पाप प्रायः सब में मान्य रहे हैं।

इस प्रकार कर्म सिद्धान्त वैज्ञानिक निरूपण है। इसने अनेक उलझी गुत्थियों का सुन्दर सुलझाव दिया है। विभिन्न गम्भीर अनुद्घाटित रहस्यों को उद्घाटित किया था। कर्म-सिद्धान्त आत्म-स्वातन्त्र्य का बल भरता है। नवीन उत्साह जगाता है।

गुलामी जीवन में कुंठा पैदा करती है फिर चाहे वह विशिष्ट शक्ति के प्रति हो या साधारण के प्रति। इस कुंठा को तोड़कर कर्म-सिद्धान्त आत्म शक्ति के जागरण का मार्ग प्रशस्त करता है।

●●

जाणं करेति एक्को, हिंसमजाणमपरो अविरतो य।
तत्थ वि बंधविसेसो, महंतरं देसितो समए॥

—बृहत्कल्पभाष्य ३९३८

एक अविरत (असंयमी) जानकर हिंसा करता है और दूसरा अनजान में। शास्त्र में इन दोनों के हिंसाजन्य कर्मबंध में महान् अन्तर बताया है। अर्थात् तीव्र भावों के कारण जानकर हिंसा करने वाले को अपेक्षाकृत कर्मबंध तीव्र होता है।

१ कर्मग्रन्थ, प्रथम भाग, पृ० २३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org